

महायान सम्प्रदाय की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि

बौद्धधर्म की महायान शाखा की मध्यम प्रतिपदा का विकास किन परिस्थितियों में और किन प्रभावों के परिणाम-स्वरूप हुआ, यही इस निबन्ध का विवेच्य विषय है।

बौद्धधर्म श्रमण परम्परा का धर्म है, किन्तु इसी सन्दर्भ में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया वह निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा के साथ समन्वय का प्राथमिक प्रयास था। श्रमणधारा और वैदिकधारा मूलतः दो भिन्न जीवनदृष्टियों पर खड़ी हुई थीं। सामान्यतया श्रमण परम्परा से निवृत्तिमार्गी धर्मों का ही ग्रहण होता है। निवृत्तिमार्गी धर्म मूलतः निर्वाणलक्षी, ज्ञानमार्गी एवं तपस्याप्रधान थे, उनका मूलभूत लक्ष्य तपस्या और ज्ञान के माध्यम से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना था। उनकी दृष्टि में सांसारिक अस्तित्व दुःखमय है और उससे छुटकारा पाना ही जीवन का आदर्श है। इसके विपरीत वैदिक परम्परा जीवन को और सांसारिक अस्तित्व को आशा भरी दृष्टि से देखती थी। वर्तमान जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य था। यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि जहाँ वैदिक परम्परा में भौतिक सुख-समृद्धि की उपलब्धि ही जीवन का लक्ष्य बनी, वहाँ श्रमणधारा के प्रारम्भिक रूपों में जीवन के निषेध का स्वर ही अधिक उभरा। वस्तुतः वैदिकधारा और श्रमणधारा मानव जीवन के दो आधार - देह और चेतना अथवा भोग और त्याग की दो भिन्न जीवन दृष्टियों पर खड़ी हुई थीं। प्रारम्भिक वैदिक धर्म का लक्ष्य भोग और प्रारम्भिक श्रमण धर्मों का लक्ष्य त्याग रहा, दूसरे शब्दों में वैदिक धर्म प्रवृत्ति प्रधान और श्रमणधर्म निवृत्ति प्रधान बना। किन्तु मानव अस्तित्व इस प्रकार का है कि वह न केवल भोग पर और न केवल त्याग पर खड़ा रहा सकता है, उसे जीवन के लिए भोग और त्याग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, वासना की सन्तुष्टि एवं विवेक का विकास सभी आवश्यक है। दैहिक और सामाजिक मूल्यों के साथ ही उसके लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य भी आवश्यक हैं।

अतः परिणाम यह हुआ कि भोग एवं त्याग के ऐकान्तिक आधारों पर खड़ी हुई धर्म-परम्पराएँ उसे अपने जीवन का सम्यक् समाधान नहीं दे सकीं।

परिणामस्वरूप भोग और त्याग तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक समन्वय अथवा सम्यक् सन्तुलन बनाने का प्रयत्न हुआ।

इस समन्वय की धारा को हम सर्वप्रथम ईशावास्योपनिषद् में देखते हैं जहाँ “तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा” में त्याग और भोग का समन्वय किया गया है। वैदिक धारा में विकसित औपनिषदिक चिन्तन इस समन्वय का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यही समन्वय की धारा आगे चलकर गीता में अधिक पुष्पित एवं पल्लवित होती है। गीता की जीवन दृष्टि ईशावास्योपनिषद् की जीवन दृष्टि का ही एक विकसित रूप है। जिस प्रकार वैदिक धारा में उपनिषद् एवं गीता समन्वय की दृष्टि को लेकर आगे आते हैं उसी प्रकार श्रमण परम्परा में बौद्धधर्म समन्वय का सूत्र लेकर आगे आता है। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्धधर्म ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के मध्य या व्यक्ति और समाज के मध्य एक समन्वय का प्रयत्न तो किया था, किन्तु उसे विकसित किया उसकी महायान परम्परा ने।

वैदिक परम्परा में यदि गीता प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य एक उचित समन्वय का प्रयास करती है, तो श्रमण परम्परा में महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक सांग-संतुलन को प्रस्तुत करता है।

इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता और महायान परम्परा एक दूसरे के अधिक निकट हैं। दोनों में कोई अन्तर है तो वह अन्तर उनके उद्गम स्थल या उनकी मूलधारा का है। अपने उद्गम के दो भिन्न केन्द्रों पर होने के कारण ही उनमें भिन्नता रही हुई है। वे अपनी मूलधारा से टूटना नहीं चाहते अन्यथा दोनों की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि लगभग समान है। अनेक तथ्यों के सन्दर्भों में हम उनकी इस समन्वयात्मक जीवनदृष्टि को देख सकते हैं।

गृहस्थ धर्म बनाम संन्यास

प्रारम्भिक वैदिक धर्म में संन्यास का तत्त्व अनुपस्थित था, गृहस्थ जीवन को ही एक मात्र जीवन का कर्मक्षेत्र माना जाता था। प्रारम्भिक वैदिक ऋषि पत्नियों से युक्त थे, जबकि श्रमण परम्परा प्रारम्भ से ही संन्यास को प्राथमिकता देती थी तथा पारिवारिक जीवन को बन्धन मानती थी।

वैदिक धर्म में यद्यपि आगे चलकर निवृत्तिमार्गी श्रमणधर्म के प्रभाव के कारण वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का प्रवेश हुआ, किन्तु फिर भी उसमें गृही जीवन को ही जीवन का उच्चतम आदर्श तथा सभी आश्रमों का आधार समझा गया और “अपुत्रस्य गतिर्नास्ति” कहकर गृही जीवन के दायित्वों को निर्वाह करने

हेतु बल दिया गया। जबकि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराओं में गृहस्थ जीवन की निन्दा की गयी और संन्यास को ही निर्वाण या मुक्ति का एक मात्र उपाय माना गया।

प्रारम्भिक जैन एवं बौद्धधर्म गृहस्थ जीवन की निन्दा करते हैं। जैन आगम दशवैकालिकसूत्र^१ में कहा गया है कि गृहस्थ जीवन क्लेश युक्त है और संन्यास क्लेश मुक्त; गृहस्थ जीवन पापकारी है और संन्यास निष्पाप है। इसी प्रकार सुत्तनिपात^२ में भी संन्यास जीवन की प्रशंसा तथा गृहस्थ की निन्दा करते हुए कहा गया है कि गृहस्थ जीवन कण्टकों से पूर्ण वासनाओं का घर है जबकि प्रव्रज्या खुले आसमान के समान निर्मल है। जैन एवं बौद्ध-दोनों ही धर्मों के प्राचीन ग्रन्थों में हमें ऐसा कोई उल्लेख देखने को नहीं मिला, जिसमें गृहस्थ जीवन की प्रशंसा की गयी हो।

जैन आगम उपासकदशांग में दश गृहस्थ उपासकों का जीवन वृत्तान्त वर्णित है, किन्तु उनको केवल स्वर्गवासी बताया गया है, मोक्षगामी नहीं। इसी प्रकार पिटक साहित्य में बुद्ध स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि गृहस्थ जीवन को छोड़े बिना निर्वाण सम्भव नहीं। किन्तु इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि महायान परम्परा और जैनों की श्वेताम्बर परम्परा तथा भगवद्गीता स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि निर्वाण या मुक्ति के लिए गृही जीवन का त्याग अनिवार्य नहीं है। महायान साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ साधक गृहस्थ जीवन से सीधा ही मुक्ति लाभ प्राप्त करता है। इसी प्रकार गीता मुक्ति के लिए संन्यास को आवश्यक नहीं मानती। उसके अनुसार गृहस्थ भी मुक्ति का अधिकारी है।

महायान, श्वेताम्बर जैन परम्परा और भगवद्गीता में किसके प्रभाव से यह अवधारणा विकसित हुई यह बताना तो कठिन है लेकिन इतना स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन में ईसा की प्रथम शताब्दी में जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच अथवा संन्यास एवं गृही जीवन के बीच जो समन्वयात्मक प्रवृत्ति विकसित हुई थी, यह उसी का परिणाम था। इन तीनों ही परम्पराओं में यह स्वीकार कर लिया गया है कि निर्वाण के लिए संन्यास अनिवार्य तत्त्व नहीं है। मुक्ति का अनिवार्य तत्त्व है - अनासक्त, निष्काम, वीतलृष्ण और वीतराग जीवन दृष्टि का विकास। फिर भी इतना अवश्य मानना होगा कि यह श्रमण परम्परा पर वैदिक धारा का प्रभाव ही था, जिसके कारण उसमें गृहस्थ जीवन को भी कुछ सीमाओं के साथ अपना महत्त्व एवं स्थान प्राप्त हुआ। फिर भी जहाँ महायान और जैन परम्परा में भिक्षु संघ की श्रेष्ठता मान्य रही, वहाँ गीता में “कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते” कहकर गृही जीवन की श्रेष्ठता को मान्य किया गया।

वैयक्तिकता बनाम सामाजिकता

यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ निवृत्तिमार्गी होने के कारण व्यक्तिनिष्ठ थीं। व्यक्ति की मुक्ति और व्यक्ति का आध्यात्मिक कल्याण ही उनका आदर्श था। प्रारम्भिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म भी हमें व्यक्तिनिष्ठ ही परिलक्षित होते हैं। जबकि प्रारम्भिक वैदिक धर्म में पारिवारिक जीवन की स्वीकृति के साथ ही सामाजिक चेतना का विकास देखा जाता है। वेदों में “संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्” अथवा “समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम्” के रूप में सामाजिक चेतना का स्पष्ट उद्घोष है। यद्यपि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ घर-परिवार और सामाजिक जीवन से विमुख ही रही हैं, फिर भी प्रारम्भिक बौद्धधर्म और जैनधर्म में श्रमण संघों के अस्तित्व के साथ एक दूसरे प्रकार की सामाजिक चेतना का विकास अवश्य हुआ है। इन्होंने क्रमशः “चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय” अथवा “समेच्चलोयं..... खेयन्ने हि पवइए” के रूप में लोकमंगल और लोक-कल्याण की बात कही है। फिर भी इनके लिए लोकमंगल और लोक-कल्याण का अर्थ इतना ही था कि संसार के प्राणियों को जन्म मरण के दुःख से मुक्त किया जाए। समाज का भौतिक कल्याण और समाज के दीन-दुःखियों को वास्तविक सेवा का व्यवहार्य पक्ष उनमें परिलक्षित नहीं होता। भिक्षु-जीवन में संघीय चेतना का विकास तो हुआ फिर भी वह समाज के सामान्य सदस्यों के भौतिक कल्याण के साथ जुड़ नहीं पाया। जैनधर्म का भिक्षु संघ तो आज तक भी समाज के वास्तविक भौतिक कल्याण तथा रोगी और दुःखियों की सेवा को अपनी जीवन चर्या का आवश्यक अंग नहीं मानता। मात्र सेवा का उपदेश देता है, करता नहीं है। श्रमण परम्पराओं ने सामाजिक जीवन में सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयत्न तो अवश्य किया और उन तथ्यों का निराकरण भी किया जो सामाजिक जीवन को दूषित करते थे। फिर भी वे अपनी निवृत्तिमार्गी दृष्टि के कारण विधायक सामाजिकता का सृजन नहीं कर सके। निवृत्तिमार्गी परम्परा में सामाजिक-चेतना का सर्वाधिक विकास यदि कहीं हुआ है तो वह महायान परम्परा में। महायान परम्परा में सामाजिक चेतना का जो विकास हुआ है, उसे उसके ग्रन्थ बोधिचर्यावतार में बहुत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। समाज की आंगिकता का सिद्धान्त, जो आज बहुत चर्चा का विषय है, का स्पष्ट उल्लेख भी इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

बौद्धधर्म की महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वहाँ तो साधक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममूल्य निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक निर्वाण में कोई

रुचि नहीं रहती। महायानी साधक कहता है - दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना।

साधना के साथ सेवा की भावना का कितना सुन्दर समन्वय है। लोकसेवा, लोक-कल्याण-कामना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतसिंह जी उपाध्याय के स्वर में स्वर मिलाकर कहना पड़ता है, कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है। आचार्य शान्तिदेव भी केवल परापेकार या लोक-कल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्कामभाव पर बल देते हैं। निष्कामभाव से लोक-कल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे उनके मौलिक चिन्तन का परिणाम है। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्कामभाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी परब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अवधारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धान्त पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते हैं, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने निःस्वार्थ कर्मयोग की अवधारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि “जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से अपनेपन का भाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग अपने शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमको उससे क्या? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दुःख से उसकी रक्षा करते हो? जैसे हाथ पैर का दुःख दूर किये

बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता।” इस प्रकार आचार्य समाज की सावयवता को सिद्ध कर इस लोकमंगल की साधना में लोकमंगल का सन्देश देते हुए आगे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इस लोकमंगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं - “जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती, उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है।” क्योंकि परार्थ द्वारा हमें अपने ही समाजरूपी शरीर को या उसके अवयवों की सन्तुष्टि करते हैं इसलिए मात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय और न विपाकफल की इच्छा ही।” महायान में बोधिसत्त्व और गीता में स्थितप्रज्ञ के जो आदर्श हैं वे व्यक्ति के स्थान पर समाज को महत्त्व देते हैं। उन्होंने वैयक्तिक कल्याण या स्वहित के स्थान पर सामाजिक कल्याण को महत्त्व दिया है और इस प्रकार व्यक्ति के ऊपर समाज को प्रतिष्ठित किया है।

महायान के बोधिसत्त्व का लक्ष्य मात्र वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना नहीं। वह तो लोकमंगल के लिए अपने बन्धन और दुःख की भी कोई परवाह नहीं करता। वह कहता है -

“बहूनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति,
उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनोः।^१
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः,
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षणारसिकेन किम्॥”^७

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है। वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को व्यक्त करते हुए भागवत, जिसमें गीता के चिन्तन का ही विकास देखा जाता है, के सप्तम् स्कन्ध में प्रह्लाद ने भी स्पष्ट रूप से कहा था कि -

“प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामाः।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ॥
नेतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्षु एको ।
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनृपश्ये ॥^८

हे प्रभु ! अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफ़ी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे। किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।

स्वहित बनाम लोकहित का प्रश्न

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया -- प्रारम्भिक श्रमणधर्म एकान्त साधना और वैयक्तिक मुक्ति पर ही बल देते थे। यद्यपि हमें उनकी यह एकान्त साधना और वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा जन कल्याण के विपरीत नहीं थी, फिर भी उसमें लोकहित का एक विधायक पक्ष उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः भगवान् बुद्ध प्रथम श्रमण थे, जिन्होंने लोकमंगल की चेतना को विकसित किया। पालि अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध का कथन है कि भिक्षुओं, जैसे पानी का तालाब गन्दा हो, चंचल हो और कीचड़युक्त हो, तो वहाँ किनारे पर खड़े आंख वाले आदमी को भी न सीप दिखाई दे, न शंख, न कंकड़, न पत्थर, न चलती हुई या स्थित मछलियाँ। यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु भैले (राग-द्वेषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा, परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परिहत को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा”^१।

बुद्ध के इस कथन का सार यही है कि जीवन में जब तक राग-द्वेष और मोह की वृत्तियाँ सक्रिय हैं, तब तक आत्महित और लोकहित की यथार्थदृष्टि उत्पन्न नहीं होती। राग और द्वेष का प्रहाण होने पर ही सच्ची लोक मंगल की दृष्टि का उदय होता है और जब यह यथार्थ दृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब स्वार्थ, परार्थ और उभयार्थ में कोई विरोध ही नहीं रहता। हीनयान या स्थविरवाद में जो स्वहितवाद अर्थात् आत्मकल्याण के दृष्टिकोण का प्राधान्य है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ मानी जा सकती हैं, फिर भी हीनयान का उस लोकमंगल की साधना से मूलतः कोई विरोध नहीं है, जो वैयक्तिक नैतिक विकास में बाधक न हो। जिस अवस्था तक वैयक्तिक नैतिक विकास और लोकमंगल की साधना में अविरोध है, उस अवस्था तक लोकमंगल उसे भी स्वीकार है। वह मात्र लोकमंगल के लिए आन्तरिक और नैतिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देता है। आन्तरिक पवित्रता एवं नैतिक विशुद्धि से शून्य होकर फलाकांक्षा से युक्त लोकसेवा के आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। उसकी समग्र अलोचनाएँ ऐसे

ही लोकहित के प्रति हैं। भिक्षु पारापरिय ने, बुद्ध के परवर्ती भिक्षुओं में लोकसेवा का जो थोथा आदर्श जोर पकड़ लिया था, उसकी समालोचना में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं -

लोगों की सेवा काय से करते हैं, धर्म से नहीं।

दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं,

(अपने) लाभ के लिए, न कि (उनके) अर्थ के लिए।^{१०}

स्थविरवादी भिक्षुओं का विरोध लोकसेवा के उस रूप से है जिसका सेवारूपी शरीर तो है, लेकिन जिसकी नैतिक चेतनारूपी आत्मा मर चुकी है। वह लोकसेवा सेवा नहीं, सेवा का प्रदर्शन है, दिखावा है, ढोंग है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। डॉ. भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार एकान्तता की साधना की प्रारम्भिक बौद्धधर्म में प्रमुखता अवश्य थी, परन्तु सार्थक तथ्य यह है कि उसे लोकसेवा के या जनकल्याण के विपरीत कभी नहीं माना गया। बल्कि यह तो उसके लिए एक तैयारी थी।^{११} दूसरी ओर यदि हम महायानी साहित्य का गहराई से अध्ययन करें तो हमें बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, लंकावतारसूत्र जैसे ग्रन्थों में भी कहीं ऐसी सेवाभावना का समर्थन नहीं मिलता जो नैतिक जीवन के व्यक्तिगत मूल्यों के विरोध में खड़ी हो। लोकमंगल का जो आदर्श महायान परम्परा ने प्रस्तुत किया है, वह भी ऐसे किसी लोकहित का समर्थन नहीं करता, जिसके लिए वैयक्तिक नैतिकता को समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से लोकहित और आत्महित की अवधारणा में हीनयान और महायान में कोई मौलिक विरोध नहीं रहा जाता। यद्यपि व्यावहारिक रूप में यह तथ्य सही है कि जहाँ एक ओर हीनयान ने एकल साधना और व्यक्तिनिष्ठ आचार-परम्परा का विकास किया और साधना को अधिकांशरूपेण आन्तरिक एवं वैयक्तिक बना दिया, वहाँ दूसरी ओर महायान ने उसी की प्रतिक्रिया में साधना के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा कर उसे सामाजिक और बहिर्मुखी बना दिया। इस तरह लोकसेवा और लोकानुकम्पा को अधिक महत्त्व दिया। यहाँ हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हीनयान और महायान ने जिस सीमा तक अपने में इस एक पक्षीयता को प्रश्रय दिया है, वे उसी सीमा तक बुद्ध की मध्यमार्गीय देशना से पीछे भी हटे हैं।

हिन्दू परम्परा में गीता में स्वहित के ऊपर लोकहित की प्रतिष्ठा हुई है। गीताकार की दृष्टि में जो अपने लिए ही पकाता और खाता है वह पाप ही खाता है।^{१२} स्वहित के लिए जीने वाला व्यक्ति गीता की दृष्टि में अधार्मिक और नीच है। गीताकार के अनुसार जो व्यक्ति प्राप्त भोगों को देने वाले को दिए बिना

अर्थात् उनका ऋण चुकाये बिना खाता है वह चोर है।^{१३} सामाजिक दायित्वों का निर्वाह न करना गीता की दृष्टि में भारी अपराध है।

गीता के अनुसार लोकहित करना मनुष्य का कर्तव्य है। प्राणियों के हित सम्पादन में लगा हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म-निर्वाण का अधिकारी होता है।^{१४} जिसे कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है, जो जीवन मुक्त हो गया है, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब नहीं, उसे भी लोक-हितार्थ कर्म करते रहना चाहिए।^{१५} श्रीकृष्ण अर्जुन से ही कहते हैं कि लोकसंग्रह (लोकहित) के लिए तुझे कर्तव्य करना उचित है।^{१६} गीता में भगवान के अवतार धारण करने का उद्देश्य साधुजनों की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना है।^{१७}

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें बौद्ध आचार्य शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय, नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियाँ मननीय हैं-

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने बहुधन्वी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दुःख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण ॥^{१८}

भोगवाद बनाम वैराग्यवाद

भोगवाद और वैराग्यवाद भारतीय चिन्तन की आधारभूत धारणाएँ हैं। वैराग्यवाद निवर्तक धर्मों का मूल है तो भोगवाद प्रवर्तक धर्मों का। वैराग्यवाद शरीर और आत्मा तथा वासना और विवेक के द्वैत पर आधारित धारणा है। वह यह मानता है कि शरीर बन्धन का कारण है और समस्त अधर्मों का मूल है, अतः शरीर और इन्द्रियों की मांगों को ठुकराना ही श्रेयस्कर है। इसके विपरीत भोगवाद यह मानता

है कि शरीर की मांगों की पूर्ति करना उचित एवं नैतिक है भारतीय परम्परा में जैनधर्म विशुद्ध रूप से वैराग्यवादी परम्परा का समर्थक रहा है और इसी दृष्टि से उसने किसी सीमा तक देह दण्डन और आत्म-पीड़न के तथ्यों को अपनी साधना पद्धति का अंग भी माना। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है श्रमण परम्परा के भगवान बुद्ध प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने इन दोनों के मध्य एवं संतुलन बनाते हुए मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है। बुद्ध कठोर मार्ग (देह दण्डन) और शिथिल मार्ग (भोगवाद) दोनों को ही अस्वीकार करते हैं। बुद्ध के अनुसार यथार्थ नैतिक जीवन का मार्ग मध्यम मार्ग है। उदान में भी बुद्ध अपने इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -- “ब्रह्मचर्य (संन्यास) के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है -- यह एक अन्त है। काम-भागों के सेवन में कोई दोष नहीं यह दूसरा अन्त है। इन दोनों प्रकार के अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है और मिथ्या धारणा बढ़ती है।” इस प्रकार बुद्ध अपने मध्यममार्गीय दृष्टिकोण के आधार पर वैराग्यवाद और भोगवाद में यथार्थ समन्वय स्थापित करते हैं। भगवान् बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग के विकास का उपदेश दिया था, उसी का विकास महायान परम्परा में हुआ, यद्यपि यह सत्य है कि मध्यम मार्ग का उपदेश देते हुए भी बुद्ध ने भोग की अपेक्षा वैराग्य पर कुछ अधिक बल दिया था, जबकि महायान साधना किसी सीमा तक भोगवाद की ओर अधिक झुक गयी। महायानी बौद्ध आचार्य अनंगवज्र कहते हैं कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती, अतः इस प्रकार बरतना चाहिये कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो। वासनाओं के दमन की प्रक्रिया चित्त शान्ति की प्रक्रिया नहीं है। यही कारण है कि आगे चलकर महायान में दैहिक इच्छाओं के दमन को अनुचित माना गया, यद्यपि यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि भोगमार्ग की ओर महायान का यह झुकाव उसे तन्त्रयान और वाममार्ग की दिशा में प्रवृत्त कर देता है।

दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आत्म-पीड़न की आलोचना के सम्बन्ध में महायान का दृष्टिकोण गीता के अत्यन्त निकट है। गीता का अनासक्ति योग भी भोगवाद और वैराग्यवाद की समस्या का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि गीता में अनेक स्थानों पर वैराग्य भाव का उपदेश है, किन्तु यह स्पष्ट है कि गीता वैराग्य के नाम पर देह-दण्डन की प्रक्रिया की समर्थक नहीं है।

निष्कर्ष

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि महायान सम्प्रदाय ने प्रवर्तक धर्म की अनेक अवधारणाओं को श्रमण परम्परा के अनुरूप रूपान्तरित किया है, वह उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। गृहस्थजीवन

से सीधे निर्वाण की सम्भावना को स्वीकार कर उसने संन्यास और गृही जीवन के मध्य एक सार्थक सन्तुलन बनाया है जिसमें संन्यास का महत्त्व भी यथावत् सुरक्षित रह सका है। इसके साथ ही श्रमण संस्था को समाज सेवा और लोकमंगल का भागीदार बनाकर श्रमण परम्परा पर होने वाले स्वार्थवादिता के आक्षेप का परिहार कर दिया है और भिक्षु संघ को समाज जीवन का एक उपयोगी अंग बना दिया है। वैदिक धर्म या गीता की अवतारवाद की अवधारणा को परिमार्जित कर श्रमण परम्परा के अनुरूप बोधिसत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। यहाँ हम स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि अवतार के समान बोधिसत्त्व भी लोकमंगल के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है, प्राणियों का कल्याण ही उसके जीवन का आदर्श है। बोधिसत्त्व और अवतार की अवधारणा में तात्त्विक अन्तर होते हुए लोकमंगल के सम्पादन में दोनों समान रूप से प्रवृत्त होते हैं। जैनों के तीर्थंकर और हीनयान के बुद्ध के आदर्श ऐसे आदर्श हैं, जो निर्वाण के उपरान्त अपने भक्तों की पीड़ा के निवारण में सक्रिय रूप से साझीदार नहीं बन सकते। अतः भक्त हृदय और मानव को सन्तोष देने के लिए जैनों ने शासनदेव और देवियों (यक्ष-यक्षियों) की अवधारणा प्रस्तुत की, तो महायान सम्प्रदाय ने तारा आदि देवी-देवताओं को अपनी साधना में स्थान प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान सम्प्रदाय वैदिक परम्परा में विकसित गीता की अनेक अवधारणाओं से वैचारिक साम्य रखता है। प्रवृत्तिमार्गी धर्म के अनेक तत्त्व महायान परम्परा में इस प्रकार आत्मसात हो गये कि आगे चलकर उसे भारत में हिन्दू धर्म के सामने अपनी अलग पहचान बनाये रखना कठिन हो गया और उसे हिन्दू धर्म ने आत्मसात कर लिया। जबकि उसी श्रमण धारा का जैनधर्म निवृत्त्यात्मक पक्ष पर बराबर बल देता रहा है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा।

सन्दर्भ :

- | | |
|--|--|
| १. दशचूलािका १/११-१३ | २. सुत्तनिपात - २/७२ |
| ३. बोधिचर्यावतार, ८/९९ | ४. वही, ८/११६ |
| ५. वही, ८/१०९ | ६. बोधिचर्यावतार - ८/१०५ |
| ७. वही - ८/१०८ | ८. श्रीमद्भागवत् ९/४४ |
| ९. अंगुत्तरनिकाय | १०. धेरगाथा, ९४१-९४२ |
| ११. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. ६०९ | १२. गीता, ३/१३ |
| १३. वही, ३/१२ | १४. वही, ५/२५, १२/४ |
| १५. वही, ३/१८ | १६. वही, ३/२० |
| १७. वही, ४/८ | १८. शिक्षासमुच्चय, अनुदित धर्मदूत, मई १९४१ |

